भारतीय संस्कृति और जैन धर्म-साधना

—डॉ० दामोदर शास्त्री
श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

आर्य सभ्यता के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो एक तथ्य प्रकट होता है कि वैचारिक प्रतिद्वंद्विता की स्थिति प्राचीन काल से है। भारत भूमि दो प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी विचार-धाराओं या संस्कृतियों की संगम-स्थली रही है। ये संस्कृतियां हैं—वैदिक संस्कृति और श्रमण (जैन) संस्कृति।

हड़प्पा व मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता के अवशेषों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के अनुयायी तथा यौगिक ध्यानादि क्रियाओं द्वारा आत्म-साधना के उपासक थे। इस संस्कृति के समानान्तर दूसरी संस्कृति थी—वैदिक संस्कृति। वेद में स्थान-स्थान पर वैदिक देवताओं के प्रति की गई प्रार्थनाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए देव-शक्तियों पर आश्रित रहने वाले थे, इनके द्वारा यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी, इनका जीवन संघर्षमय व अ-सुरक्षा भावना से ग्रस्त था। दैनिक जीवन में और शत्रुओं के प्रति व्यवहार में वे पूर्णतः अहिंसक नहीं कहे जा सकते। कहीं कहीं तो इनकी क्रूरता के उदाहरण भी दृष्टिगोचर होते हैं।[1]

ठीक इसके विपरीत, देश में पर्यटनशील व्रात्य लोगों की परम्परा विद्यमान थी, जो व्रतनिष्ठ एवं अहिंसा धर्म के आराधक थे, जिनका विश्वास आत्म-कल्याण व आत्म-शुद्धि में था। यह परम्परा भी, बहुत सम्भवतः सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं की तरह, श्रमण संस्कृति की अनुयायी थी।

देवों और असुरों के मध्य हुआ संघर्ष भी एक प्रकार से दो संस्कृतियों या जातियों के मध्य था। विद्वानों का अनुमान है कि असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से सम्बद्ध थे। यह बात और है कि विद्वेष के कारण 'असुर' शब्द को 'हिंसक' का पर्यायवाची बना दिया गया। विष्णुपुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के अनुयायी थे।[2] उनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास था।[3] यज्ञ व पशुबलि में उनकी अनास्था थी।[4] श्राद्ध व कर्मकाण्ड के वे विरोधी थे।[5] महाभारत में असुर राजा बलि अपने मुख से आत्म-साधना का जो वर्णन करता है वह जैन धर्म के सर्वथा अनुकूल है।[6]

जैन संस्कृति के तीर्थंकरों की परम्परा ने भारतीय समाज को समय-समय पर जो सद्ज्ञान दिया, उसका प्रभाव यह हुआ है कि वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा धर्म को बहुमान मिलता गया। वीतराग धर्म के प्रति वैदिक

[1] द्र० अथर्व वेद, २/५/३।
[2] द्र० विष्णु पुराण, ३/१७-१८ ; देवी भागवत ४/१३/५४-५७ ; मत्स्य पुराण, २४/४३-४९ ; पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड), १३/१७०-४१३।
[3] विष्णु पु०, ३/१८/२६।
[4] विष्णु पु०, ३/१८/२७-२८।
[5] विष्णु पु०, ३/१८/२९-३०।
[6] महाभारत (शान्ति पर्व), २२७ अ० (गीता प्रेस)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृति के अनुयायी भी आकृष्ट हुए। सम्भवतः प्रारम्भ में उन अनुयायियों के प्रति वैदिक संस्कृति के लोगों के मन में अनादर का भाव रहा है, किन्तु कालान्तर में समन्वय का रास्ता अपना कर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया। दोनों ही संस्कृतियों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान बढ़ता रहा। फलस्वरूप व्यावहारिक जीवन के आचार-विचारों की दृष्टि से दोनों संस्कृतियों में मौलिक फर्क कर पाना प्रायः मुश्किल हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, राग-द्वेषादि सांसारिक दुःख के हेतु हैं, मनोविकारों पर विजय तथा शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि से मुक्ति प्राप्त हो सकती है—इत्यादि बातें दोनों संस्कृतियों में लगभग समान आदर व दृढ़ता के साथ स्वीकारी गईं, और यही कारण है कि उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि वैदिक संस्कृति के परवर्ती आदरणीय ग्रन्थों में जैन संस्कृति के स्वर स्थल-स्थल पर ढूंढ़े जा सकते हैं।

अपने उच्च आदर्शों के कारण जैन (श्रमण) संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गई। यही कारण है कि वैदिक धर्म की अपेक्षा पुरुषार्थ-कर्त्तव्यता के रूप में जैन धर्म को अधिक आदरणीय स्थान मिला, जिसका प्रमाण निम्नलिखित पद्य है—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, कर्त्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यः, ध्यातव्यः परमः शिवः ॥[7]

यहाँ तक कि भगवान् राम को भी एक वैदिक संस्कृति के ग्रन्थ में शांति प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र की आत्मसाधना का अनुकरण करने की भावना प्रकट करते हुए वर्णित किया गया है—

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।
शांतिमासितुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा ॥[8]

वैदिक संस्कृति का प्रारम्भ में लक्ष्य जिस स्वर्ग की प्राप्ति था,[9] उस स्वर्ग का वातावरण भौतिक समृद्धि, कामसुख, भोगलिप्सा का प्रतीक होते हुए भी, वासना-अतृप्ति, अशांति तथा विनश्वरता से मुक्त नहीं समझा गया और परवर्ती काल में वैदिक संस्कृति का लक्ष्य स्वर्ग के स्थान पर पुण्य-पाप से परे की मुक्त स्थिति हो गया।[10] इसी तरह यज्ञ का स्वरूप क्रमशः अहिंसक होता गया और 'द्रव्य-यज्ञ' की अपेक्षा 'ज्ञान-यज्ञ' को प्रमुखता मिल गई।[11] यह सब जैन संस्कृति का वैदिक संस्कृति पर प्रभाव ही था।

किन्तु दोनों संस्कृतियों में मूलभूत अन्तर समाप्त हो गया हो ऐसी बात नहीं। संक्षेप में वह अन्तर मूलतः दो बातों में है। जहाँ वैदिक संस्कृति ईश्वर या किसी अलौकिक शक्तिधारी व्यक्ति को इस जगत् का कर्त्ता, हर्ता व नियन्ता मानती है, वहीं जैन संस्कृति, ईश्वर का अस्तित्व मानती हुई भी, ईश्वर के सृष्टिकर्तापन का निषेध करती है और जगत् के मूलभूत दो तत्वों—जीव व अजीव में अन्तर्निहित स्वभाव-भूत शक्ति से ही जगत् का नियमन स्वीकारती है। दूसरी बात यह कि जहाँ वैदिक संस्कृति में जिन-देवताओं को पूज्य माना जाता रहा है, उनकी पूज्यता उनकी चमत्कारिक शक्ति, विविध सुख-साधन, ऐश्वर्य तथा व्यावहारिक सामाजिक गुणों आदि पर आधारित है, किन्तु जैन संस्कृति में पूज्यता की कसौटी व्यक्ति की 'वीतरागता' है। वेदों में जिस देव-शक्ति को अलंघ्य, दुर्ज्ञेय, जगत्-विधाता,[12] तथा पृथ्वी-रक्षक[13] बता कर स्थल-स्थल पर प्रार्थना आदि

[7] षड्दर्शनसमुच्चय पर मणिभद्रकृत टीका (पद्य ८ पर)।
[8] योगवाशिष्ठ (वैराग्य प्रकरण), १५/८।
[9] ऋग्वेद, १०/१४, ४/५३/२, १०/१२/१।
[10] मुण्डकोपनिषद्, ३/१/३, १/२/७३।
[11] महाभारत (शान्ति पर्व), १२/२७२; भागवत पुराण, ११/५/११-१३; गीता०, ४/३३।
[12] ऋग्वेद, १०/३३/६, १०/८२/७, १०/८२/३।
[13] ऋग्वेद, १२/१/१-७ (पृथ्वी सूक्त)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की गई है, जिस देव समाज का अनुकरण करने की[१४] तथा उससे सख्य-भाव 'मैत्री' स्थापित करने की[१५] कामना की गई है, उस देव-समाज का परवर्ती रूप जो व्याख्यात हुआ है वह रागद्वेषयुक्त समाज से भिन्न नहीं। किन्तु जैन संस्कृति में जिन पंच-परमेष्ठियों को पूजनीय देव रूप में आदर प्राप्त है, वे वीतरागता की मूर्ति हैं।

भगवान महावीर के समय की परिस्थिति :

भगवान महावीर के समय में वैदिक संस्कृति में जो बुराइयाँ व्याप्त थीं, उनमें जातिप्रथा, अस्पृश्यता, उच्च-नीच की भावना, आडम्बरपूर्ण धार्मिक क्रिया-काण्ड, अन्ध श्रद्धा आदि प्रमुख थीं। इसके अतिरिक्त बुद्धिजीवी समाज की स्थिति भी सन्तोषप्रद नहीं थी। यद्यपि वैचारिक उर्वरता अधिक मात्रा में थी, पर विभिन्न दार्शनिक मतवाद परस्पर-विरोध से स्वयं अप्रतिष्ठित हो रहे थे।[१६] भगवान् महावीर ने जगत् को 'अनेकान्तदृष्टि' दी और अहिंसा को व्यावहारिक जगत् के साथ-साथ वैचारिक जगत् में भी प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार एक ओर साम्यवाद व परस्पर-मैत्री पर आधारित समाज की रचना तो प्रस्तुत हुई ही, साथ ही दूसरी ओर विविध वैचारिक दृष्टिकोणों को परस्पर अविरोधपूर्वक फलने-फूलने का वातावरण भी तैयार हुआ। फलस्वरूप, भारतवर्ष बौद्धिक व वैचारिक उत्कर्ष के लिए बंजर भूमि न बनकर सर्वदा उर्वर भूमि बना चला आ रहा है।

जैन धर्म व्यवहार्य :

जैन धर्म ऐसा नहीं है कि जिसका व्यवहार या आचरण सम्भव न हो, बल्कि वह तो आत्मा का स्वाभाविक रूप है। वह 'धर्म' धार्मिक बाह्य क्रियाकाण्डों की अपेक्षा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति में निहित है। और वह स्वाभाविक स्थिति उसकी वीतरागता, समता-भाव है। वीतराग स्थिति में पहुँच कर आत्मा स्वयं 'धर्म' का रूप बन जाता है।[१७] संक्षेप में धर्म करने की वस्तु नहीं, बल्कि 'जीने की' वस्तु है। धर्म किया नहीं जाता है, वह साधक की स्वाभाविक क्रिया बन जाए, इसी के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। दूसरे शब्दों में धर्म ऊपर से या बाहर से थोपी जाने वाली चीज नहीं, वह तो स्वयं से उद्भूत होने वाली स्थिति है। चारित्र को आत्मा से जोड़ने से तात्पर्य यह भी है कि धर्म बाहर-भीतर एक है, चिन्तन, और आचार में एकरूपता आवश्यक है।[१८]

जैन धर्म या साधना का आचरण स्वाभाविक रूप से ही किया जाना चाहिए। अर्थात् क्षेत्र और काल को तथा साधक की शक्ति को ध्यान में रखकर धर्म-अधर्म के व्यवहार-पक्ष का मान-दण्ड नियत किया जाना उचित है। अन्यथा 'धर्म' किसी व्यक्ति के लिए अस्वाभाविक भी हो सकता है। बालक, वृद्ध, स्वस्थ, रोगी—इन विविध अवस्थाओं में धर्म का एक स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता।[१९] किन्तु सभी प्रकार के साधकों को अंत में पहुंचना एक ही स्थिति में है, ऐसी स्थिति जहां धर्म और साधक दोनों एकरूपता प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने से पूर्व सारी स्थितियां साधन-मात्र हैं, साध्य नहीं।

अहिंसा-धर्म का स्वरूप :

हिंसा का हेतु हिंसा करने वाले व्यक्ति के मन में बैठा द्वेष और अज्ञान 'मोह' है।[२०] हिंसा की क्रिया द्विविध

[१४] ऋग्वेद, १०/१६१/२ ; अथर्व वेद, ५/१६/७ (पैप्पलाद शाखा)।

[१५] ऋग्वेद, १/८६/२।

[१६] अन्ययोगव्यवच्छेदिका (हेमचन्द्र), २६।

[१७] प्रवचनसार, १/६२।

[१८] प्रवचनसार, ३/३७; तुलनीय उत्तराध्ययन, २६/५१।

[१९] प्रवचनसार, ३/३०-३१।

[२०] प्रवचनसार, २/५७, ८३, ८८, ६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप से होती है। स्व-हिंसा और पर-हिंसा। हिंसा का विचार उठते ही हिंसक व्यक्ति की आत्मा स्वरूपच्युत हो जाती है और वह स्वयं का वध कर लेता है। इसके अनन्तर 'पर-जीव' के प्राणों का घात होता है। कभी-कभी हिंसा का विचार मन में उठकर रह जाता है या पर-जीव का हिंसा का प्रयास सफल नहीं हो पाता—ऐसी स्थिति में भले ही व्यावहारिक रूप से हिंसा न दिखाई पड़े, वैचारिक दृष्टि से हिंसक व्यक्ति की आत्मा की हिंसा तो हो ही गई और हिंसा का फल उस व्यक्ति को मिलेगा ही।[२१]

इस प्रकार हिंसा के दो भेद हैं—अन्तरंग हिंसा, और बहिरंग हिंसा। अशुद्धोपयोग अन्तरंग हिंसा और पर-जीव का प्राणोच्छेद बहिरंग हिंसा है। किन्तु बहिरंग हिंसा के कर्म का बन्ध कारक होना या न होना अन्तरंग हिंसा पर निर्भर है।[२२] अन्तरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा का कुफल व्यक्ति को नहीं भोगना पड़ेगा। इसीलिए कहा गया कि यतनापूर्वक (समिति) आचरण करने वाले साधक को व्यावहारिक हिंसा के होने पर भी बन्ध नहीं होता, जबकि यतनापूर्वक आचरण न करने वाले को बाह्य हिंसा न होने पर भी, स्वात्म-घात का दोष लगेगा ही। अंतरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा स्वतः अप्रतिष्ठित हो जाएगी।

व्यवहार धर्म और वीतरागता की साधन :

यद्यपि वीतरागता की स्थिति ही साधक का लक्ष्य है, किन्तु वहाँ तक पहुंचने में कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती है, मोह, राग और द्वेष के स्तर को क्रमशः भेद कर ही बढ़ना सम्भव है। हिंसा, द्वेष, अपकार आदि कार्य अशुभोपयोग हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार उपादेय नहीं समझना चाहिए। इस स्थिति से ही तो ऊपर उठना जैन साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। वीतरागता की स्थिति शुद्धोपयोग है जो मोक्ष का साक्षात् कारण है और साधना की सीमा है। साधना में विषयराग को छोड़कर स्वधर्म तथा धर्मोपयोगी साधनों के प्रति अपने को अनुरक्त करना पड़ता है। इस स्थिति में साधक में स्वभावतः पंच-परमेष्ठी आदि में भक्ति का भाव रहता है। जीवों पर दया, अनुकम्पा, करुणा आदि के भाव भी यथासामर्थ्य साधक में उत्पन्न होते हैं। यह सारी स्थिति शुभोपयोग रूप कही जाती है। यह शुभोपयोगी स्थिति अशुभोपयोगी स्थिति की अपेक्षा उपादेय या प्रशस्त कही जा सकती है, किन्तु साधक का कर्त्तव्य है कि वह इस स्थिति को संसार-बन्ध का कारण समझते हुए शुद्धोपयोग की स्थिति पर पहुंचने के लिए प्रयत्नशील रहे।[२३] शुभोपयोग से भले ही पुण्य मिलता हो, किन्तु पुण्य प्राप्त स्वर्गादि का सुख भी एक दृष्टि से बन्धन ही है।[२४] यदि शुभोपयोग की स्थिति भी सम्यक्त्व से आलोकित हो तो परम्परा से मोक्ष प्राप्त होना कहा गया है।[२५] शुभोपयोग की स्थिति में यदि मोहग्रस्तता हो तो शुद्धात्म-प्राप्ति असम्भव है।[२६] इसके विपरीत, शुद्धोपयोग को लक्ष्य कर आगे बढ़ने वाला साधक, शुभोपयोग की प्रवृत्ति करता हुआ भी दोषग्रस्त नहीं होता।

मुनि अवस्था में साधक शुभोपयोग करता हुआ भी अपने संयम का घात न हो—इसका विशेष ख्याल रखता है।[२७] साथ ही वह शुभोपयोग को कभी मुख्यता प्रदान नहीं करता, शुद्धोपयोग की तुलना में गौण ही रखता

[२१] द्र० प्रवचनसार, २/५७ पर जयसेनाचार्य कृत टीका ; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २/३१।

[२२] प्रवचन सार, ३/१७ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।

[२३] प्रवचन सार, १/६, १/५, १/११, ३/५४ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।

[२४] समयसार, ३/१४६ ; प्रवचनसार १/७७।

[२५] रयणसार, १० ; प्रवचनसार, ३/५५ पर जयसेन कृत टीका।

[२६] प्रवचनसार, १/७९।

[२७] प्रवचनसार, ३/५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[२८] प्रशस्त राग की पात्रता-अपात्रता भी फल की अनुकूलता-प्रतिकूलता की 'अल्पता-अधिकता' करती है।[२९] गृहस्थ (सागार) साधक की दृष्टि में शुभोपयोग की स्थिति 'अशुभोपयोग की तुलना में' मुख्य रूप से ग्राह्य है। शुभोपयोग में स्थिरता के अनन्तर ही वह शुद्धोपयोग के प्रति अग्रसर हो सकता है, इसीलिए कुछ विचारक 'सराग चारित्र' को वीतराग चारित्र में साधन मानते हैं।[३०] किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता हुआ वीतराग चारित्र में रहता हुआ, उसका दिव्य वैभव फल भोगता हुआ भी पुण्याचरण को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं मानता, उस प्राप्त वैभव को स्वपद नहीं स्वीकारता।

व्यवहार-धर्म करते हुए भी व्यवहार से ऊपर उठना कैसे सम्भव :

करुणा, अनुकम्पा, दया आदि कार्य प्रशस्त होते हुए भी शुभोपयोग वीतरागता की तुलना में कुछ नीची स्थिति के द्योतक हैं।[३१] इसका कारण यह है कि इन कार्यों में 'राग' भाव है जो बन्ध का कारण कहा गया है।[३२] जब कोई व्यक्ति किसी पर दया, करुणा आदि प्रदर्शित करता है तो उसके मन में किसी को दयनीय समझने की, तथा पर-उपकार करने के स्वसामर्थ्य को प्रदर्शित करने की भावना होती है, यह भावना अज्ञानमूलक होती है। इसीलिए, सम्भवतः करुणा को मोह का चिह्न बताया गया है।[३३] जब कि सभी जीवों में आत्मा एक जैसी है तो उनमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीच की भावना लाना—'अज्ञान' ही कहा जाएगा।[३४] परमार्थतः तो सांसारिक पदार्थ, यहाँ तक कि अपना शरीर भी स्थायी नहीं, अतः उनके आधार पर स्वयं को उच्च तथा दूसरे को नीच समझना असंगत ही है।[३५] इसके अतिरिक्त, दानादि कार्यों में कर्तृत्व-भावना भी त्याज्य है, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से कोई द्रव्य किसी 'पर द्रव्य' का कर्त्ता ही नहीं होता।[३६] कोई भी देव या मनुष्य हो, किसी का न तो उपकार कर सकता है और न अपकार ही।[३७] अपने शुभाशुभ कर्म ही अपना शुभ या अशुभ करते हैं। मैं किसी को मारता हूँ या जिलाता हूँ—यह भावनाएँ 'मूढ़ता' हैं।[३८]

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुकम्पा, दया, करुणा आदि कार्य किए तो जाएँ,[३९] किन्तु ममत्व, कर्तृत्व तथा अहंभावनाओं को निकाल कर।[४०] इसीलिए व्यवहार-धर्म के आचरण के विषय में आचार्यों का निर्देश है कि ये पुण्य-प्राप्ति हेतु न किये जाएँ।[४१] इस निर्देश को ध्यान में रख कर साधक व्यावहारिक धरातल से ऊपर उठता हुआ क्रमशः शुद्धात्म-प्राप्ति के लक्ष्य तक पहुँच जाएगा। निज शुद्धात्मा ही उपादेय है,

[२८] प्रवचनसार, ३/५४ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।
[२९] प्रवचनसार, ३/५४ पर जयसेन कृत टीका।
[३०] प्रवचनसार, ३/७५ पर जयसेन कृत टीका ; आत्मानुशासन, १२२।
[३१] प्रवचनसार, ३/४५ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।
[३२] प्रवचनसार, २/८७, ३/४३।
[३३] प्रवचनसार, १/८५।
[३४] प्रवचनसार, २/२२।
[३५] प्रवचनसार, २/१०१।
[३६] समयसार, ३/३१ (९९) ; प्रवचनसार, २/६८।
[३७] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३१९ (१२/३१९)।
[३८] समयसार, ७/२५०, २५९ ; प्रवचनसार, १/७९।
[३९] उत्तराध्ययन, ६/२ ; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३० ; सूत्रकृतांग, १/११-१२।
[४०] पंचास्तिकाय, १६९ ; दशवैकालिक, ९/६।
[४१] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १२/४०९ ; भावसंग्रह, ४०४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी श्रद्धा के साथ शुद्धात्म-प्राप्ति के अनुकूल चारित्र-पालन करने वाले साधक को मुक्ति मिलती है, अन्यथा प्रशस्त बाह्याचरण तो पुण्यबन्ध का कारण है। जो शुद्धात्मा को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखते, और सर्वविधि पुण्यकार्य करते हैं, वे मोक्ष को तो पाते ही नहीं, बल्कि संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं।[४२]

स्वरूप में पूर्ण स्थिरता न आने से शुभ राग की स्थिति हो भी, तो साधक को चाहिए कि वह निजात्म-स्वरूप में विशेष लीनता बनाए रखे। यदि इसमें कमजोरी रही तो उपशम श्रेणी से आरोहण करना होगा, क्षपक श्रेणी से नहीं। ऐसी स्थिति में राग का सम्पूर्ण अभाव सम्भव नहीं होगा। अतः पुण्याचरण को भी साधक 'स्व' भाव न समझे, विभाव रूप से ही माने।

साधना करने वाले की अवस्था पर शुभोपयोग की मुख्यता व गौणता समझनी चाहिए। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के लिए अशुभोपयोग के त्याग की दृष्टि से शुभोपयोग की मुख्यता है, किन्तु वही शुभोपयोग उच्च स्तर के साधक के लिए, शुद्धात्मपरिणति के लक्ष्य की दृष्टि से गौण कहा जाएगा।[४३] पहले साधक विषयों से अनुराग छोड़ दे, फिर गुणस्थान-क्रम से बढ़ते-बढ़ते रागादि से रहित शुद्धात्मा में स्थित होता हुआ, अर्हत् आदि में भक्ति-विषयक राग भी छोड़ दे।[४४]

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं :

यह लोक जीव तथा अजीव का क्रीडा-स्थल है।[४५] दोनों ही तत्व अनादि व अनन्त है।[४६] संसार की प्रक्रिया स्वभावतः होती रहती है। भौतिक जगत छोटे-बड़े पिण्डों का निर्माण व भंग उनमें निहित रूक्ष व स्निग्ध शक्ति पर निर्भर है।[४७] आत्मा के कर्म 'बन्ध' का निर्माण भी पौद्गलिक शक्ति के कारण स्वतः सम्भव होता है।[४८] संसार में जीवों के सुख-दुःख का तारतम्य भी कर्मकृत है।[४९] इस प्रकार विश्व की व्यवस्था तत्वों में समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है किसी ईश्वरीय शक्ति को नियामक आदि के रूप में मानने की कोई जरूरत नहीं।

जैन दृष्टि से स्वयंभू तथा ईश्वर की स्थिति प्रत्येक आत्मा को वीतरागता से प्राप्त हो सकती है।[५०] किन्तु इस स्थिति में आत्मा 'पर-पदार्थों' को न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न उनके रूप में परिणमन करता है, अपितु स्वस्वरूपस्थित रहता है।[५१] यद्यपि जैसे दर्पण में घटपटादि-पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं, वैसे ही व्यावहारिक दृष्टि से केवली के ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों की सत्ता है।[५२]

इस प्रकार जैन दृष्टि से ईश्वर संसार का नियामक नहीं। प्रत्येक जीव वीतरागता प्राप्त कर ईश्वरीय महनीय पद प्राप्त कर सकता है।[५३] संसार के कार्यों में वीतराग की आसक्ति कभी हो ही नहीं सकती। उक्त ईश्वरत्व की शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है।[५४]

[४२] भावपाहुड़, ८४ ; समयसार, ३/१५३।
[४३] प्रवचनसार, ३/५४ पर जयसेन कृत टीका।
[४४] पंचास्तिकाय, १६७ गाथा पर तात्पर्यवृत्ति टीका।
[४५] प्रवचनसार, २/३७ ; २/४४ पर अमृतचन्द्र कृत टीका ; उत्तराध्ययन, ३६/२।
[४६] प्रवचनसार, २/३,११ ; २/६ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।
[४७] प्रवचनसार, २/७४-७५।
[४८] प्रवचनसार, २/७७-७८ ; पंचास्तिकाय, ६५।
[४९] प्रवचनसार, २/६५ पर अमृतचन्द्र कृत टीका।
[५०] प्रवचनसार, १/१६, १/१५; पंचास्तिकाय, २६,१७२।
[५१] प्रवचनसार, १/३२।
[५२] प्रवचनसार, १/३१ पर आधारित जयसेन कृत टीका।
[५३] प्रवचनसार, १/८१।
[५४] समाधिशतक, ६८ ; प्रवचनसार, १/१५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org